आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/Journals
वर्ष 1, अंक 2, दिसम्बर 2015, पृ. 37–43

भारतीय सामाजिक संस्तरण : एक समग्रवादी व्याख्या

श्रीपाल चौहान*

समाज व्यवस्था का दूसरा बड़ा तथ्य समाज में व्याप्त असमता का सिद्धान्त है, जिसे समाजशास्त्रियों ने सामाजिक संस्तरण या स्तरीकरण कहा है। मेलविन एम॰ टयूमिन ने सामाजिक संस्तरण को अति प्राचीन, सार्वभौम और विभिन्न आधारों वाली व्यवस्था बताया है (टयूमिन,1969)। उन्होंने यह भी बताया है कि एक ही समाज में विभिन्न श्रेणियों के बीच जीवन के अवसरों की अर्थात् सम्पदा, सत्ता और सम्मान के वितरण में असमानता होती है। इसके परिणामस्वरूप उनकी जीवन शैलियों में भी अन्तर होता है। अतः समाज में विशमता व्याप्त हो जाती है और अन्तर्विरोध ा पैदा हो जाते हैं। आचार्य जी इस सार्वभौम सामाजिक विषमता को समाज के लिए घातक मानते हैं। उन्होंने लिखा है : ''मनुष्य–मनुष्य के बीच जो आकाश–पाताल जैसा अन्तर आज दिखलाई पड़ रहा है, उसे मिटाने और घटाने का समय अब आ गया है। असमानता, ईर्ष्या–द्वेष पैदा करती है। उससे गिरे हुए वर्ग में हीनता–दीनता एवं पतनोन्मुख प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं और उठे हुए वर्ग में विलासिता, अहंकार, लोभ एवं अनुदारता जैसे दोष–दुर्गुणों की बाढ़ आ जाती है। असमानता इतनी ही सत्य और क्षम्य है जितनी हाथ की पाँच उँगलियों में होती है। परिस्थिति और आवश्यकता में अन्तर होने से मनुष्यों का स्तर थोड़ा नीचा–ऊँचा भी रखा जा सकता है, पर उसकी वैसी अति नहीं होनी चाहिए जैसी आज है।" (ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 4.71)। प्रस्तुत शोध–पत्र में पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य के सामाजिक संस्तरण पर चिन्तन को बोध और विश्लेषण की दृष्टि से विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है ताकि सामाजिक संस्तरण पर उनका समग्र चिन्तन समाहित हो सके।

आचार्य जी ने सामाजिक संस्तरण के अकार्यों का विश्लेषण करते हुए उसे समाज की जड़ों पर कुठाराघात बताया है। उन्हीं के शब्दों में : ''असमानता ने मनुष्य जाति के बीच भारी खाई उत्पन्न की है और एकता की जड़ पर भयानक कुठाराघात किया है। ईर्ष्या–द्वेष की आग भड़काने, अलगाव, आतंक, युद्धों और संघर्ष की विभीषिकाएँ उत्पन्न करने का कारण यह असमानता ही है, जिसने समाज को अपराध और पाप की आग में झोंक दिया।''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 4.71)। सामाजिक संस्तरण के प्रमुख आधारों का भी आचार्य जी ने विवरण और विश्लेषण किया है। उनके

---

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, शासकीय महाविद्यालय, तेन्दूखेडा, दमोह (म.प्र.)

अनुसार ये आधार पाँच हैं प्रजाति भेद (रंगभेद), वर्ण एवं जाति भेद, लिंग भेद, वर्ग भेद और पद भेद। यहाँ उनका संक्षिप्त विवरण देना तर्कसंगत होगा।

1. प्रजाति भेद (रंगभेद)

आचार्य जी इस असमानता को अप्राकृतिक मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में : ''गाय, घोड़ा, बन्दर, कबूतर, मोर, तीतर की भाँति मनुष्य भी एक जाति है। ऋतु और परिस्थिति के कारण मनुष्यों के रंग–रूप, आकृति– प्रकृति में थोड़ा–बहुत अंतर हो सकता है, पर उससे उसके स्तर में कोई फर्क नहीं पड़ता। यह एक तथ्य है कि गर्म देशों में जन्म लेने वाले काली चमड़ी के होते हैं। ठण्डे देशों में जो पैदा होते हैं, उनकी चमड़ी गोरी होती है। मध्य एशिया के मंगोल नस्ल के पीले रंग, तिरछी आँखों और चपटी नाक वाले पाये जाते हैं। किन्तु इस आधार पर उनके स्तर को नीचा–ऊँचा नहीं माना जा सकता। गोरे लोग, काली चमड़ी वालों को, केवल रंग के आधार पर नीचा समझें, घृणा करें, मानवीय अधिकारों से उन्हें वंचित कर दें, यह अन्याय के सिवा और क्या है ? संसार में रंग–भेद को लेकर ऊँच–नीच की मान्यता बुरी तरह फैली हुई है। अमेरिका में अभी भी संघर्ष की स्थिति बनी हुई है। राष्ट्र संघ तथा विश्व के सभी विचारशील लोगों ने इसे अन्यायमूलक और अवांछनीय घोषित किया है। फिर भी गोरों का आग्रह अपनी सफेद चमड़ी के आधार पर उच्चता सिद्ध करने का ही है''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 4.72)।

2. वर्ण एवं जाति भेद

वर्ण और जाति भारतीय समाज की अप्रतिम श्रेणीबद्धता है। आचार्य जी ने लिखा है : ''संसार में दूसरी जगहों पर तो गोरी–काली चमड़ी के आधार पर असमानता चल रही है, पर अपने देश में (भारतवासियों ने) तो इस दिशा में गजब ही कर दिया। एक परम्परा, एक ही रक्त, एक ही अंश, एक ही रंग के लोग कल्पित जाति–पांति के आधार पर एक दूसरे को नीचा–ऊँचा मानने लगे हैं। विषमता की अति इस सीमा तक पहुँच गयी है कि तथाकथित ऊँची जाति वाले तथाकथित नीची जाति वालों को पास बैठाने तक में, मानवीय सामाजिकता के सामान्य शिष्टाचार एवं अधिकार तक से इंकार करते हैं। आदर्शवादी, धार्मिक और आध्यात्मिक कहे जाने वाले भारतीय समाज के माथे पर एक अति व्यंग्य और उपहास भरा ऐसा लांछन है, जिसने उनकी गरिमा का मूल्य पूरी तरह गिरा दिया है।''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 4.72)

आचार्य जी के अनुसार वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ अति प्राचीन काल में हुआ था। सारे समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इसके मूल उद्‌गम का प्रमाण ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र को बताया जाता है:

ब्राह्मणोश्स्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कश्तः ।
अरु तस्य यद्‌वैश्यः पद्‌भ्यां शूद्रो अजायत ।।
(ऋग्वेद 10, 9, 1)

इस श्लोक पर आचार्य जी का कहना है : ''इस मन्त्र का सीधा–सा आशय तो यह है कि ''समाजरूपी शरीर से ब्राह्मण मुख स्थानीय है, क्षत्रिय भुजाओं के समान है, वैश्य मध्य के धड़ की तरह और शूद्र पैरों का उद्‌देश्य पूरा करते हैं।'' पर बाद में एक का दस अर्थ करने को ही विद्वता का लक्षण मानने वाले 'पंडितों' ने यह व्याख्या की कि ब्राह्मण लोग भगवान् के मुख से निकले हैं, क्षत्रिय भुजाओं से उत्पन्न हुए हैं, वैश्यों की उत्पत्ति पेट से हुई है और शूद्र पैरों की पैदाइश हैं।

इस प्रकार व्याख्या करने वालों का खयाल शायद यह है कि जिस प्रकार मानव देह में मस्तक का भाग सबसे महत्त्व का माना जाता है और पैरों को भले–बुरे सब तरह के स्थानों के सम्पर्क में आना पड़ता है, उसी प्रकार संसार में ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ और शूद्र उनसे बहुत निकृष्ट हैं। पर ये सब बाल बुद्धि की परिचायक हैं। भगवान् किसी को बाजीगर की तरह अपने मुँह और पेट से निकालते नहीं फिरते।''(आचार्य,, 1998ः पृ॰ 33) आचार्य जी का मानना है कि किसी समय इन चार वर्णों का सृजन गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर व्यवसायों के विभाजन की दृष्टि से किया गया था। उपर्युक्त वेदमन्त्र समाज के कार्य–विभाजन का ही परिचायक है। उसे हजारों जातियों में ऊँच–नीच का आध ाार मानना अज्ञानता का चिह्न है (आचार्य, 1998ः पृ॰ 34)। यथार्थ में आज के भारतीय समाज में वर्ण–व्यवस्था जैसी कोई व्यवस्था नहीं है। अखिल भारतीय स्तर पर इसे शास्त्रीय आदर्श लोग मानते हों तो हों, वास्तविक प्रभावी स्तरण तो जाति व्यवस्था है।

आज की वस्तुस्थिति को स्पष्ट करते हुए आचार्य जी ने लिखा है : ''वर्तमान समय में हिन्दुओं में जात–पांत के रूप में जो श्रेणी–विभाजन पाया जाता है वह सबसे अनोखा है। वह ऐसा विचित्र है कि उसका स्वरूप विदेशियों की समझ में आ सकना कठिन होता है। विदेशों में जो श्रेणियाँ या जातियाँ बनती हैं उसका कारण उनकी वर्तमान परिस्थितियाँ होती हैं। धन–सम्पत्ति, विद्या, राजनीतिक अधिकारों के घटने–बढ़ने के साथ उनकी 'जाति' भी बदलती रहती है, पर भारतवर्ष में जाति ने इस समय ऐसा स्थायी रूप धारण कर लिया है कि एक ब्राह्मण मूर्ख, दुराचारी, निर्धन होने पर भी सदगुणी वैश्य व कायस्थ से उच्च समझा जाता है। वह ब्राह्मण भी ऐसा मानता है, दूसरे अन्य जातीय व्यक्ति भी ऐसा ही समझते हैं और वैश्य या कायस्थ भी इससे इंकार नहीं करता।''(आचार्य,, 1998ः पृ॰ 30–31)। आचार्य जी जाति व्यवस्था के प्रमुख लक्षण इस प्रकार बताते हैं : प्रथम, छोटी–बड़ी जाति की सब कसौटियों में सिर्फ जाति में जन्म लेना ही प्रमुख है। वह व्यक्ति सदगुणी है या दुर्गुणी, विद्वान है या मूर्ख, धनी है या निर्धन, इन बातों का कोई विचार नहीं किया जाता। द्वितीय, जातियों के साथ पवित्रता–अपवित्रता, खान–पान, स्पर्श और सम्बन्ध के अनेक नियम और प्रतिबन्ध जुड़े होते हैं। तृतीय, जातियाँ अन्तःविवाही होती हैं। एक जाति को अपनी ही जाति में विवाह करना पड़ता है और अन्तिम रूप से, खास बात यह भी देखने में आती है कि जहाँ ऊँच जाति वालों में संकीर्णता का भाव कम हो रहा है, वहाँ नीची जाति वाले अपने से नीची जाति वालों को दबाकर ही रखने का प्रयास करते हैं (आचार्य,, 1998ः पृ॰ 30–34)।

आचार्य जी जाति–भेद के कारणों का भी वर्णन करते हैं। उनके अनुसार प्रमुख कारण तीन हैं : पहला, शुरू में विभिन्न वर्णों में पारस्परिक विवाह के फलस्वरूप चार वर्णों से अलग जातियाँ पैदा हुई थीं। फिर जब इन नयी पैदा हुई जातियों में भी पारस्परिक सम्बन्ध होने लगे तो अनेक जातियों का आविर्भाव होने लगा। दूसरा कारण यह हुआ कि अनेक वर्णों के व्यक्तियों ने अपने संस्कारों, जातीय नियमों का त्याग कर दिया, जिससे उनका बहिष्कार कर दिया गया और उनकी एक भिन्न जाति तैयार हो गयी। तीसरा कारण यह हुआ कि बाहर से जो शक, हूण आदि कितनी ही विदेशी जातियाँ आयीं, वे यहाँ बसकर एक नयी जाति के रूप में परिणत हो गयीं अथवा यहाँ के लोगों से सम्बन्ध करके उन्होंने अन्य प्रकार की जातियों को जन्म दिया। इस प्रकार चार से सोलह और सोलह से चौसठ जातियाँ बनते–बनते उनकी संख्या इतनी बढ़ गयी कि उन सबकी गिनती कर सकना भी कठिन हो गया (आचार्य, 1998ः पृ॰ 34)।

आचार्य जी जाति–भेद के कारण हिन्दू समाज को हुई हानियों को बहुत गहरा और घातक मानते हैं। इसने हिन्दू समाज के द्वार बन्द कर दिये। जहाँ प्राचीन काल में शक और हूण जैसे विदेशी भी हिन्दुओं में मिलकर उनकी शक्ति और संख्या बढ़ाते रहते थे, वहीं जाति व्यवस्था ने हिन्दुओं को निर्बल और पंगु बना दिया। हिन्दुओं की संकीर्णता ने उनके बड़े भाग सिक्खों को उनसे अलग किया। इतना ही नहीं, अनेक हिन्दू जातियों ने स्वयं को उत्पीड़ित और उपेक्षित मानते हुए इस्लाम और इसाई धर्म को स्वीकार किया। जिसने भी गैर हिन्दू जाति से सम्पर्क किया या सम्बन्ध स्थापित किया या छुआ–छूत के नियम तोड़े उसे ही जाति से बाहर निकाल दिया गया। पिछले हजार वर्षों से अधिक के इतिहास में विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा, जो विपुल संख्या में नहीं आये थे, हिन्दुओं की निरन्तर हार के पीछे भी एक बहुत बड़ा कारण उनकी जाति व्यवस्था है। आचार्य जी ने लिखा है : ''जाति–भेद के कारण देश–रक्षा में भी बड़ी बाधा पड़ी है और अधिकांश देशवासी अपनी मातृभूमि की रक्षा करने में कर्त्तव्यविमुख सिद्ध हुए हैं। कृ कारण यही था कि वहाँ युद्ध करने वाले क्षत्रियों का अभाव था और जाति वाले सोचते थे कि हमारा युद्ध से कोई सम्बन्ध ा नहीं''(आचार्य,, 1998ः पृ॰ 36)। इतना ही नहीं वरन् जाति–भेद की कट्टरता के कारण हिन्दू लोगों का विदेश जाना रुक गया। इसलिए वे संसार में होने वाले नये–नये परिवर्तनों से अपरिचित रहकर कूप–मंडूक बन गये। हिन्दुओं में दहेज की भयानक कुरीति के लिए भी जाति–भेद की कट्टरता उत्तरदायी है। आचार्य जी बताते हैं कि गत कुछ सौ वर्षों में अनेक सन्त और सुधारक हुए हैंः जैसे–कबीर, रैदास, दादू, सेन, तुकाराम, नामदेव आदि जो चरित्र और आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत श्रेष्ठ थे। उनका निम्न जातियों पर तो प्रभाव पड़ा पर इसी जातीय कट्टरता के कारण हिन्दुओं की उच्च जातियों में वैसा सम्मान नहीं मिला जो उन्हें मिलना चाहिए था (आचार्य, 1998ः पृ॰ 37)

आचार्य जी आज के भारतीय समाज में भी जाति भेद की कट्टरता बढ़ती हुई देखते हैं। उन्होंने लिखा है : ''जातियों ही नहीं उपजातियों तक में बँटा हुआ भारतवर्ष बुरी तरह से विलगाव के रोग से ग्रसित हर दृष्टि से दीन–दुर्बल होता चला जा रहा है। देखने भर के लिए हम एक हैं, पर असलियत में जिस प्रकार सन्तरे के भीतर टुकड़े–टुकड़े के भीतर छोटे–छोटे टुकड़े भरे रहते हैं, उसी प्रकार हम जातियों–उपजातियों और ऊँच–नीच की मूढ़ मान्यताओं में बुरी तरह चिपके हुए हैं। बात इतने तक सीमित नहीं, यह विष राजनीति तक में प्रवेश कर चुका है। चुनावों में जीतने के लिए जाति–पाति के आधार पर वोटरों का समर्थन प्राप्त करना एक प्रमुख तथ्य बन गया है। भीतर–भीतर पनपती इस दुर्बुद्धि के कारण देश के टुकड़े–टुकड़े होने, गृह युद्ध खड़ा होने जैसे अनेकों खतरे आये दिन मंडराते रहते हैं।''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 4.72)

3. लिंग भेद

आचार्य जी की दृष्टि में असमानता का एक महत्त्वपूर्ण आधार लिंग भेद भी है। पुरुष की तुलना में नारी की सामाजिक प्रस्थिति नीची है और उसके विरुद्ध अनेकों भेदभाव बरते जाते हैं। आचार्य जी ने लिखा है : ''पिछले दिनों सामन्तवादी अन्धकार युग में नर–नारी के बीच जो आकाश–पाताल जैसी खाई उत्पन्न हो गयी थी, वह धीरे–धीरे कम तो हो ही गयी है, पर अभी वह मूढ़ता अवांछनीय रूप में विद्यमान है।''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 4.72) आचार्य जी उन सभी बन्धनों का वर्णन करते हैं, जिनमें आज नारी जकड़ी प्रतीत होती है। वह शिक्षा से वंचित है, परदे

में बन्द है, सांसारिक ज्ञान में भी शून्य है और एक प्रकार की सम्पत्ति समझी जाती है। भारत में तो बाल विवाह, दहेज प्रथा और वैधव्य की दुर्दशा से वह पीड़ित है। आचार्य जी इन सब कुरीतियों के विरोधी हैं और उन्हें अन्यायपूर्ण मानते हैं। उनकी स्पष्ट प्रतिपादना है : ''नर और नारी''दो घटकों से मिलकर समाज बना है। दोनों की स्थिति, उपयोगिता, कर्त्तव्य एवं अधिकार समान हैं। इनमें से न कोई महत्त्वहीन है, न महत्त्वपूर्ण। न्याय की पुकार है कि दोनों को अपने व्यक्तित्व को समान रूप से विकसित करने का अवसर मिले''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 4.73)। इतना ही नहीं वरन् एक सामान्य नियम की प्रतिपादना करते हुए वे लिखते हैं : ''समाज के उत्थान और पतन का आधार अधिकांश में स्त्रियों पर ही है। स्त्रियाँ राष्ट्र की जननी होती हैं और भावी सन्तान का चरित्र निर्माण तथा शारीरिक और मानसिक विकास उन्हीं पर निर्भर होता है। जिस देश और काल में जैसी नारियाँ होती हैं, उन्हीं के अनुसार वहाँ का समाज बनता या बिगड़ता रहता है'' (आचार्य, 1998: पश॰ 39)। आचार्य जी की दृष्टि में यह लिंग भेद भविष्य में समाप्त होने वाला है और इक्कीसवीं सदी में उनकी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी।(ब्रह्मवर्चस, 1998)

4. वर्ग भेद

वर्ग भेद की दृष्टि से सबसे प्रमुख असमानता धन के आधार पर है। आचार्य जी इस असमानता का वर्णन करते हुए लिखते हैं :''धनी और निर्धन की इसी असमानता के कारण एक व्यक्ति देवताओं जैसी सुख–सुविधा भोगता है और अप्रत्याशित सम्मान पाता है, जबकि निर्धन भोजन, वस्त्र, चिकित्सा जैसी अनिवार्य आवश्यकताओं से वंचित हो जाता है''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 4.73)। उन्होंने अन्यत्र कहा है : ''अमीरी और गरीबी के बीच पायी जाने वाली विषमता ऐसी खाई बन रही है, जिसके कारण ईर्ष्या, द्वेष, विग्रह का माहौल क्रमशः बढ़ता ही जाता है। यदि औसत नागरिक स्तर का निर्वाह सभी के लिए एक व्यवस्था बन गयी होती तो न ही ऊँचे टीले दिखाई पड़ते और न ही कहीं खाई–खन्दक। समतल भूमि में ही कुछ निर्माण और उत्पादन सम्भव होता। इस शाश्वत सिद्धान्त की उपेक्षा करके विषमता के विष बीज हर खेत में बोये जा रहे हैं''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 4.8)। आचार्य जी रशियन मनीषी प्रिन्स कोपाटिकन को उद्धृत करते हुए लिखते हैं : ''यह विषमता न तो ईश्वर प्रदत्त है, न भाग्य का खेल। यह समाज में प्रचलित अर्थ प्रणाली के दोषपूर्ण होने का परिणाम है''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 4.73)। आचार्य जी की दृष्टि में प्राचीन काल में ऐसी वर्ग व्यवस्था नहीं थी। उन्हीं के शब्दों में : ''प्राचीन काल में ऐसा न था। तब आध्यात्मिक समाजवाद प्रचलित था। नियम कानूनों के बल पर नहीं, विकसित संवेदनाओं के आधार पर परिग्रह को, अतिरिक्त उपभोग, विलासिता को पाप की मान्यता प्राप्त थी। अब वे परम्पराएँ नहीं रहीं तो राजसत्ता के नियन्त्रण में धन के ऊपर समाज का स्वामित्व एवं वितरण व्यवस्था रहने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। अगले दिनों यही प्रणाली प्रचलित होगी। लेकिन इसका ढाँचा मार्क्स की प्रणाली से सर्वथा भिन्न और अलग होगी''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 4.73) आचार्य जी ने आध्यात्मिक समाजवाद की स्थापना पर जोर दिया है और उसे भावी समाज की व्यवस्था बताया है। आध्यात्मिक समाजवाद एकता, समता और न्याय के सिद्धान्त पर आधारित है।

5. पद भेद

सामाजिक संस्तरण अथवा असमानता का अन्तिम आधार पद–क्रम है। आचार्य जी के अनुसार, ''प्रतिभाशील एवं सुयोग्य व्यक्तियों को उनकी क्षमता के अनुरूप काम सौंपे जायें, यह ठीक है। उन्हें अपनी ईश्वर प्रदत्त विशेषताओं, विभूतियों का लाभ जन–साधारण को देते हुए अपना भाग्य सराहना चाहिए एवं महत्त्वपूर्ण कार्य करने का अवसर पाने का सन्तोष करना चाहिए। पद के कारण सरकारी अफसरों को ठाट–बाट, असाधारण वेतन, अस्वाभाविक–अनावश्यक सम्मान मिलना गलत है। इस प्रलोभन में 'पद' प्राप्त करने के लिए अयोग्य लोगों में भी लिप्सा एवं प्रतिद्वंद्विता पैदा होती है। यदि उच्च पदों पर शान्त, सन्तोष एवं सेवा के अनुपात से उपलब्ध लोक श्रद्धा मात्र का ही लाभ मिले और आज जो आर्थिक लाभ, अहंकार पूर्ति के अवसर अकारण मिलते हैं, वे न मिलें तो अवांछनीय व्यक्तियों को उसके लिए धमाचौकड़ी मचाने का आकर्षण न रह जाये। फिर तो सिर्फ उदात्त व्यक्ति ही श्रेष्ठ आदर्श लेकर उन उत्तरदायित्वों को अपने कन्धें पर उठाने के लिए तैयार हों ''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 4.73)।

आचार्य जी सामाजिक विषमता या असमानता को किसी भी प्रकार से न्यायसंगत नहीं मानते। न तो वह दैवीय है और न प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही। जब सभी उस परमपिता परमात्मा के पुत्र हैं तो उनमें कोई ऊँचा व कोई नीचा कैसे हो सकता है। एक आध्यात्मिक पुरुष होने के नाते उन्होंने लिखा है : ''प्रकृति अपने अनुदान समान रूप से बाँटती है। हवा बहती है वह सबके लिए, वर्षा होती है वह सबके लिए, फल उगते हैं वह सबके लिए। अग्नि कभी किसी के साथ पक्षपात नहीं करती। सूर्य किसी एक घर को ही प्रकाशित नहीं करता। चन्द्रमा का औषधि तत्त्व सम्पूर्ण वृक्ष–वनस्पति चूसते रहते हैं। परमात्मा का प्राण संसार के सम्पूर्ण प्राणियों के लिए समान रूप से बिखरा पड़ा है, जिसकी जितनी इच्छा हो उपभोग करे। प्रकृति कभी किसी के साथ अन्याय नहीं करती। साम्यावस्था को प्रकृति और विषमता को विकृति कहते हैं। समता ही धर्म है और विषमता ही अधर्म है''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 4.24)। आचार्य जी समता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं और सभी से उसके प्रतिपालन का आह्वान करते हैं। उन्हीं के शब्दों में : 'आत्मवत सर्वभूतेषू' के तत्त्व ज्ञान में प्रत्येक प्राणी की मूल चेतना में आत्मा की उपस्थिति दिखाई देने, सबको समान सुख–दुख होने पर प्रत्येक को न्याय का अधिकारी होने की मान्यता है। जीवात्मा की इसी मौलिक स्थिति को समता के तत्त्व ज्ञान से स्वीकार किया गया है। इसका फलीतार्थ 'जियो और जीने दो' के रूप में सामने आता है। दूसरों से वही व्यवहार करें, जो दूसरों से अपने लिए चाहते हैं''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 4.25)।

सामाजिक असमानता पर अपनी बात का समाहार करते हुए आचार्य जी ने समता को युगधर्म का आवश्यक आधर बताया और कहा कि भविष्य में मानव–समाज को उसे मान्यता देनी ही होगी। उन्हीं के शब्दों में : ''आज भले ही यह बात गले न उतरे पर कल तो इसे अनिवार्य शर्त के रूप में मानना होगा। राजतन्त्र समाप्त हो गये, अब वर्ग तन्त्र भी समाप्त होने जा रहा है। नये

युग में किसी को इस आधार पर ऊँचा–नीचा न माना जायेगा कि उसका अमुक वंश में जन्म हुआ। रंग, जाति या वंश के कारण किसी को न अहंकार जताने का अवसर रहेगा और न इस वजह से किसी को हीनता–दीनता अनुभव होगी''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 4.73)। आचार्य जी के अनुसार एकता और समता ही भविष्य के सर्वोच्च मूल्य होंगे। उनका कथन है : ''इन आदर्शों को हमें किसी देश, क्षेत्र, सम्प्रदाय के सुधार तक ही सीमित न रखकर विश्वव्यापी बनाना चाहिए, ताकि समूची मनुष्य जाति सुख–शान्ति से रह सके और सर्वतोमुखी प्रगति कर सके''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 4.9)।

संदर्भ ग्रंथ

टयूमिन, मेलविन एम. 1969: *सोशल स्टैटिफिकेशन,* नई दिल्ली: प्रिंटिस हॉल ऑफ इंडिया।

ब्रह्मवर्चस (सं.), 1998: पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय, *भव्य समाज का अभिनव निर्माण,* (खण्ड सं. 46), मथुरा : अखण्ड ज्योति संस्थान।

आचार्य, प. श्रीराम शर्मा 1998: *रुग्ण समाज और उसका कायाकल्प,* हरिद्वार : श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट।

ब्रह्मवर्चस (सं॰) 1998: पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय, *इक्कीसवीं सदी : नारी सदी* (खण्ड सं. 62), मथुरा : अखण्ड ज्योति संस्थान,, द्वितीय संस्करण।